जैनदर्शन और जैमिनीयसूत्र : कुछ तौलनिक निरीक्षण

(अखिल भारतीय दर्शन परिषद, ५७ वाँ अधिवेशन, पारनेर,महाराष्ट्र, १२ से १४ जनवरी २०१३)

विषय व मार्गदर्शन –: डॉ. नलिनी जोशी
(प्राध्यापिका, जैन अध्यासन, पुणे विद्यापीठ)
शोधछात्रा –: डॉ. अनीता बोथरा.
(संशोधक सहायिका, जैन अध्यासन, पुणे विद्यापीठ)

घर का पता :
डॉ. अनीता सुधीर बोथरा
प्लॉट नंबर ४४, लेन नंबर ८,
ऋतुराज सोसायटी,
पुणे ४११०३७

दिनांक : ८/१/२०१३

विषय का चयन :

विषय के शीर्षक से श्रोताओं को लगेगा कि भारतीय दार्शनिक धारओं में श्रमण और ब्राह्मण ये जो दो परम्पराएँ निहित हैं, उनमें से किन्हीं दो श्रमण दर्शनों की अथवा किन्हीं दो ब्राह्मण दर्शनों की तुलना हो सकती है । लेकिन यहाँ बाह्यत: परस्परविरोधी लगनेवाले दो दर्शन तौलनिक निरीक्षणों के लिए चुने हैं । यज्ञप्रधान, कर्मकाण्डप्रधानतथा लोकानुश्रुति के द्वारा हिंसाप्रधान होनेवाले 'जैमिनीयदर्शन' तथा कर्म की निवृत्ति पर बल देनेवाला, यज्ञीय हिंसा का निषेध करनेवाला 'जैनदर्शन' – इन दोनों की तुलना करना योग्य है या नहीं ? – इस प्रश्न का जवाब खोजते-खोजते समग्र भारतीय विचारधाराओं के स्रोत के प्रति जैन परम्परा में उल्लिखित विचार सामने आये ।

दृष्टिवाद एवं पूर्व साहित्य की पृष्ठभूमि :

जैन परम्परा के अनुसार समग्र जैन साहित्य का मूलस्रोत 'दृष्टिवाद' नामक ज्ञानभाण्डार है, जो आज अनुपलब्ध है । दृष्टिवाद एवं उसके एक विभाग स्वरूप होनेवाले पूर्वग्रन्थों में निहित विषयों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उसका धर्म -सम्प्रदायातीत- विशाल वैचारिक स्वरूप उभरकर सामने आता है । दृष्टिवाद नाम से ही यह सूचित होता है कि सत्य की ओर देखने की ये दृष्टियाँ अथवा विविध विचारधाराएँ हैं । जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।'[१] जैनविद्या के प्रथितयश संशोधक डॉ. हीरालाल जैन, 'दृष्टिवाद' की समीक्षा समग्र भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में करते हुए लिखते हैं कि, ''इन 'पूर्व' नामक रचनाओं के अन्तर्गत तत्कालीन न केवल धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक विचारों का संकलन किया गया था किन्तु नानाविध कला, विद्या एवं मन्त्र-तन्त्रादि विषयों का भी समावेश कर दिया गया था । ये रचनाएँ प्राचीन काल का भारतीय ज्ञानकोष कही जाय तो अनुचित न होगा ।''[२]

इन मूलस्रोतों में से अपने-अपने अनुकूल विचारधाराओं का एकत्रीकरण करते हुए, धीरे-धीरे लगभग २००० वर्षों के अवकाश में विविध भारतीय दार्शनिक धाराएँ सुप्रतिष्ठित हुई । जैन साहित्य में विद्यमान विभिन्न वैचारिक धाराओं के सूचक कई उल्लेख पाये जाते हैं । प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समसामायिक ३६३ मतों का निर्देश जैन पुराणों में पाया जाता है । अर्धमागधी आगम सूत्रकृतांग में 'समवसण' का अर्थ प्रमुखता से, 'विविध वादों का संगम' ही बताया है । किंबहुना सूत्रकृतांग की पूरी रचना ही, 'स्वसिद्धान्त एवं परसिद्धान्त' के मण्डणार्थ की गयी है । ऋषिभाषितमें निहित विभिन्न ऋषियों के नाम एवं उनके विचार इसी तथ्य की ओर निर्देश करते हैं ।

इस शोधलेख में यह प्रयास किया गया है कि जैन और जैमिनीय दोनों के बाह्य आविष्कार भिन्न होने के बावजूद भी उनमें कौन-कौनसा अन्तरंग साम्य है, जो दोनों दर्शनों ने ज्ञानकोषस्वरूप पूर्वग्रन्थों से स्वीकृत कियाहै ।

(१) मीमांसा शब्द का मूलार्थ और जैन ग्रन्थों में उल्लेख :

चिन्तन एवं विचारपरक 'मन्' क्रियापद का इच्छार्थक रूप मीमांसा है । उसका अर्थ है, गहन विचार, पूछताछ,

परीक्षण और अनुसन्धान ।

जैन अर्धमागधी ग्रन्थों में इसी अर्थ में मीमांसा (प्राकृत – वीमंसा) शब्द प्रयुक्त किया गया है । नायाधम्मकहा में उल्लेख है कि अभयकुमार ईहा–ऊह–मार्गणा–गवेषणा–मीमांसा में प्रवीण था ।[३] जैन ज्ञानमीमांसा को समर्पित नन्दीसूत्र ग्रन्थ में भी इसी पदावलि का उपयोग पाया जाता है ।[४] हम कह सकते हैं कि यहाँ मीमांसा शब्द का प्रयोग पूर्वमीमांसा एवं जैमिनीयसूत्र से सम्बन्धित नहीं है । उपरोक्त नन्दीसूत्र में 'मिथ्याश्रुत' शीर्षक के अन्तर्गत लगभग २७ जैनेतर ग्रन्थों के नामों की गिनती दी है । उनमें 'अंग, उपांगसहित चार वेद' इस पदावलि में कल्पग्रन्थ भी समविष्ट है जिन पर जैमिनीयसूत्र आधारित है । इसके सिवा 'कल्पाश्रित' (कप्पासिय) इस संज्ञा से हम शाबरभाष्यसहित जैमिनीयसूत्रों का अन्तर्भाव कर सकते हैं । मीमांसा एवं जैमिनी शब्द का साक्षात् प्रयोग न होते हुए भी हम दावे के साथ कह सकते हैं कि नन्दीकार को जैमिनीयदर्शन ही अपेक्षित है । क्योंकि सांख्य, वैशेषिक, पातञ्जल, बुद्धवचन आदि सब उल्लिखित होने के कारण जैमिनीयसूत्रों का उल्लेख न होना असम्भव है ।[५]

जैमिनीयसूत्रों के शाबरभाष्य में मीमांसा शब्द का विशेष अर्थ इस प्रकार से दिया जाता है कि इस शास्त्र में वेदवचनों का परिशीलन करके समन्वय प्रस्थापित किया है । मीमांसा के अन्य नाम निम्न प्रकार के हैं ।

१) यज्ञों के निमित्त वेद वाक्यों में विनियोगार्थ इस शास्त्र के प्रयोग के कारण इसे 'अध्वरमीमांसा' भी कहा जाता है ।

२) वेदविहित कर्मों के निष्पादन में प्रयोजक, प्रेरक और निर्णायक होने के कारण इसे 'कर्ममीमांसा' भी कहा जाता है ।

३) यज्ञकर्म द्वारा पुरुषार्थ–चतुष्टय का साधक होने एवं मोक्षप्रापक कर्म–ब्रह्म की उपासना में प्रवृत्त करनेवाली यह 'ब्रह्ममीमांसा' भी है ।

४) न्यायविषयक ग्रन्थों में अर्थनिर्णय में सहाय्यक होने के कारण इसे 'न्यायशास्त्र' भी कह सकते हैं ।[६]

(२) जैमिनीय और अनुयोगद्वार : पद्धतिशास्त्र की समानता

जैमिनीयसूत्रों का काल यद्यपि तीसरी शताब्दी माना गया है तथापि शाबरभाष्य की रचना के बाद याने कि ईसा की पहली–दूसरी शती में दार्शनिकक्षेत्र में मीमांसा का प्रचलन अच्छी तरह से होने लगा । जिस प्रकार मीमांसादर्शन अर्थनिष्पत्ति एवं तात्पर्यनिश्चिति का शास्त्र है उसी प्रकार का स्थान जैन अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में अनुयोगद्वार का है । अभ्यासकों ने अनुयोगद्वार के रचयिता आर्यरक्षित का काल ईस्वी की पहली शताब्दी निर्धारित किया है ।इसका अर्थ है कि दोनों परम्पराओं में ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दियों में अर्थनिष्पत्ति, तात्पर्यनिर्णय एवं पद्धतिशास्त्र का विकास समानरूप से जारी था । अनुयोगद्वारसूत्र 'Theory of Interpretation' के तौरपर प्रसिद्ध है ।

मीमांसा का उद्देश वेदवाक्यों का समन्वय करना है । अनुयोगद्वार का उद्देश आगमों के परस्परविरोधिता का समन्वय करना कतई नहीं है क्योंकि श्वेताम्बर–दिगम्बर दोनों आगमों में प्राय: तात्त्विक या सैद्धान्तिक मूलगामी मतभेद नहीं है । अनुयोगद्वार ने अर्थनिष्पत्ति का एक नया तरीका अपनाया है । 'नाम–स्थापना–द्रव्य–भाव' अथवा 'द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव' इस निक्षेप–चतुष्टय के द्वारा संकल्पनाओं की समीक्षा करने का तरीका अनुयोगद्वार प्रस्तुत करता है । वाक्यों से उचित अर्थबोध होने के लिए व्याकरणिक अंग से 'व्युत्पत्ति', 'समास', 'विभक्ति' आदि दृष्टियों से भी मार्गदर्शन पाया जाता है । जैन विश्लेषण पद्धति के आधारभूत 'सप्तनयों' का एवं 'चार प्रमाणों' का भी विवेचन अनुयोगद्वार प्रस्तुत करता है ।

जैमिनीयसूत्र और अनुयोगद्वार में पद्धतिशास्त्र (methodology) का जो विकसित रूप पाया जाता है वह बहुतही लक्षणीय है । इन दोनों की विस्तृत तुलना संशोधकों के लिए एक अमूल्य अवसर है ।

(३) अथातो धर्मजिज्ञासा :

जैमिनीय का प्रारम्भिक सूत्र है, 'अथातो धर्मजिज्ञासा ।' वैदिक परम्परा में 'अथ' शब्द को मंगलवाचक मानकर, पातञ्जलयोगसूत्र में एवं बादरायण ब्रह्मसूत्र में भी प्रयुक्त किया गया है । वे क्रम से कहते हैं – 'अथ योगानुशासनम् ।' एवं 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।' अथ शब्द का मांगल्य अर्थ जैन परम्परा को मान्य नहीं है । अत: श्वेताम्बर-दिगम्बर आगमों में एक भी ग्रन्थ का आरम्भ 'अथ' शब्द से नहीं किया गया है ।

धर्म की जिज्ञासा जैमिनीय ने भी की है और जैनों ने भी । सूत्रकृतांग (१) ग्रन्थ में 'धर्म' नामक नौवें अध्ययन में आरम्भ में प्रश्न उपस्थित किया है कि, 'कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मईमया ।' दशवैकालिक नामक ग्रन्थ की प्रारम्भिक पंक्ति इस प्रकार है – 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।' इस पंक्ति में प्रथम ही धर्म का मंगलत्व स्पष्ट किया है और बाद में अहिंसा, संयम और तप को मंगलोत्पत्ति का कारण बताया है ।

जिस प्रकार मीमांसा में 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्', एक सुप्रतिष्ठित तत्त्व है उसी प्रकार जैन परम्परा में भी वीतराग-प्रणीत आगमवचन ही धर्म के मूलाधार माने हैं ।

धर्म की क्रियापरता स्पष्ट करते हुए जैमिनी दूसरे ही सूत्र में कहते हैं – 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:' अर्थात् वेदनिहित एवं क्रियापरक वाक्य ही धर्म है । यह दृष्टिकोण जैन परम्परा को बिलकुल मान्य नहीं है । धार्मिकआचार के सम्बन्ध में कर्मकाण्ड एवं क्रियापरता का मानदण्ड हटाकर, जैनियों ने निवृत्ति एवं संयम की बात ही वारंवार अधोरेखित की है । दोनों दर्शनों का धर्म की ओर देखने का तरीका इस प्रकार अलग-अलग है ।

(४) जैमिनीयसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की कुछ रचनात्मक विशेषताएँ :

* तत्त्वार्थसूत्रकार वाचक उमास्वाति का काल सामान्यत: तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है । इसका अर्थ यह है कि उनके सामने उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त छोडकर बाकी सब याने कि पूर्वमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक इन सब दर्शनों के सूत्रबद्ध ग्रन्थ उपस्थित थे । सूत्र की बाह्य रचना के अनुसार देखा जाय तो तत्त्वार्थसूत्र पर वैशेषिक एवं पातञ्जलयोगसूत्र का प्रभाव निश्चित रूप से दिखाई देता है । विषय और दृष्टिभिन्नता के कारण जैमिनीयसूत्रों का प्रभाव दिखाई नहीं देता ।

* तत्त्वार्थसूत्र प्राकृत-भाषा-निबद्ध जैन आगमों का संस्कृत-सूत्रबद्ध साररूप है । उसमें मूलगामी जैन तत्त्वज्ञान, विश्वस्वरूप, कर्मसिद्धान्त, नयवाद और मुनि एवं श्रावकों का आचार भी समाविष्ट है । विषय की दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र एक परिपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है ।

वेद, ब्राह्मण एवं कल्पविषयक ग्रन्थ, जैमिनीयसूत्र के आधारभूत ग्रन्थ हैं । 'उनमें निहित तत्त्वज्ञान विषयक विचारों का निचोड सूत्ररूप में लाना' – यह जैमिनीयसूत्र का प्रतिपाद्य बिलकुल भी नहीं है । पदार्थ, तत्त्वविचार, सैद्धान्तिक अवधारणा, विश्वविचार, ज्ञानमीमांसा आदि सब विषय जैमिनीयसूत्रों से गौण प्रकार से निष्पन्न होते हैं । 'वेदवाक्यों की अन्तर्विरोधिता दूर करना'ही उसका प्रतिपाद्य है । 'यज्ञीय कर्मकाण्ड की उपादेयता' जैमिनी का प्रमुख प्रयोजन है । वैशेषिक दर्शन के सप्तपदार्थ प्राय: जैमिनी ने गृहीतक के रूप में माने हैं – जैसे कि द्रव्य, गुण, कर्म इ. । यह तथ्य वैशेषिक दर्शन की प्राचीनता की ओर संकेत देता है ।

* तत्त्वार्थसूत्र में ऐसे विषयों का समग्रता से जिक्र किया है जो विषय श्वेताम्बर-दिगम्बर आगम एवं उनके परवर्ती प्राचीन, अर्वाचीन व्याख्याग्रन्थों में समानता से शब्दांकित किये गये हैं । जिन मुख्य अवधारणाओं में निर्विवाद मान्यता है ऐसे सारे विषय तत्त्वार्थसूत्र में गुंफित है ।

जैमिनीयसूत्रों में यह तथ्य दिखाई देता है कि वेदों में निहित ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड में से केवल कर्मकाण्ड को ही प्रमुखता दी है । पूरे ज्ञानकाण्ड को केवल अर्थवाद की दृष्टि से ही सार्थक माना है ।

* षड्द्रव्य और नवतत्त्वों की अवधारणा, चारित्रपालन के लिए पूरक होने के कारण तत्त्वार्थसूत्र में एकत्रित रूप से उनका दार्शनिकीकरण हुआ । जैमिनी के सामने एक आपत्ति थी । यज्ञीय कर्मकाण्ड एवं दैनन्दिन विधिविधानों

की सार्थकता बताने के लिए वेदों में निहित तत्त्वज्ञान की पार्श्वभूमि शायद उनको पूरक नहीं लगी । इसके सिवा तत्त्वज्ञान में भी वैचारिक मतभिन्नता थी । क्योंकि वैदिक साहित्य में विभिन्न ऋषियों के, विभिन्नकालीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं । इसलिए तत्त्वार्थसूत्र की भाँति दर्शन-ज्ञान-चारित्र की समन्वितता जैमिनी प्रस्तुत नहीं कर सके । मुख्य और गौण की अवधारणा उनकी तार्किक विवशता थी ।

(५) विश्वसंकल्पना, स्वर्ग एवं नरक :

विश्वस्वरूपमीमांसा एवं स्वर्ग-नरक-संकल्पना जैनदर्शन का एक प्रमुख भाग है । षड्द्रव्यों के अस्तित्ववाले आकाशप्रदेश को 'लोकाकाश' कहते हैं । उसके चहूँओर 'अलोकाकाश' भी है । त्रैलोक्यांतर्गत ऊर्ध्वलोक में क्रम से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्वर्गों का अवस्थान है । बीच में मनुष्य और तिर्यंचों की वसतियुक्त मध्यलोक है । अधोलोक में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ (याने अधिकाधिक क्रूर) नरकों का आवास है । विश्व के बीच में त्रसनाडी है जिसमें सभी त्रसजीवों का वास्तव्य है । भौगोलिक स्थानों पर आधारित चतुर्गत्यात्मक व्यवस्था भी जैनदर्शन में व्यवस्थित रूप से बतायी है - जैसे कि नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव । तत्त्वार्थसूत्र में , जो कि एक दार्शनिक ग्रन्थ है, विश्वसंकल्पना को तीसरे और चौथे अध्यायों में प्रमुखता से स्थान दिया है ।

केवल जैमिनीय-दर्शन में ही नहीं बल्कि छहों वैदिक-दर्शनों में से किसी ने भी विश्वसंरचना को ठीक तरह से अंकित नहीं किया है । बाकी दर्शनों की तो बात छोडिए, 'स्वर्गकामो यजेत'-इस यजुर्वेदीय मन्त्र का लम्बा-चौडा स्पष्टीकरण देनेवाले, जैमिनीयसूत्र एवं भाष्य में स्वर्ग की संख्या, स्थान आदि का कथन करना अत्यन्त अनिवार्य है । यज्ञ जैसे पुण्यकर्म से अगर स्वर्गप्राप्ति हो तो पापकर्मियों के लिए नरक वर्णन भी अनिवार्यता ही है । स्वर्ग-नरक-संकल्पना ऋग्वेद में बीजरूप से, अथर्ववेद में किंचित् विस्तारित रूप से और महाभारत एवं पुराणों में अतिविस्तृत रूप से पायी जाती है । स्वर्ग-नरक-संकल्पनाओं को दार्शनिक स्थान न देनेवाले वैदिक दार्शनिकों से समग्र, अतिभव्य विश्वसंकल्पना की गुंजाईश भी नहीं की जा सकती ।

महान् आश्चर्य की बात यह है कि जैन और जैमिनीय दोनों एकवाक्यता से कहते हैं कि, 'यह समूचा विश्व अनादि और अनन्त है ।'[७] इसका कारण यह है कि दोनों दार्शनिक परम्पराएँ समान रूप से ईश्वर को, उसके जगत्-कर्तृत्व को तथा उत्पत्ति-प्रलयादि कल्पनाओं को पूर्ण रूप से नकारती है ।

(६) देवतासृष्टि :

देवता के विषय में जैमिनी ने, दसवें अध्ययन के चतुर्थ पाद के देवताधिकरण में विचार किया है । यज्ञयागादि में किसी देवताविशेष (इन्द्र, विष्णु, वरुण इ.) को लक्ष्य करके आहुति दी जाती है । 'देवाय', 'अग्नये' आदि पद, मीमांसा के मत में, देवता-सम्प्रदानकारक-सूचक पद मात्र है । देवता मन्त्रात्मक है । शब्दरूप मन्त्रों को सर्वाधिक प्रधानता है । 'शब्द नित्य है'[८], इसलिए मन्त्र मुख्य और देवता गौण है । अत: देवता की कृपा को नहीं बल्कि यज्ञीय अनुष्ठान को ही महत्त्व दिया है ।[९]

जैनदर्शन के अनुसार देवगति चतुर्गति में से एक है । देवताओं को भी आयुष्कर्म का क्षय होने पर, स्वर्गलोक का त्याग करना ही पडता है । देवी-देवों की उपासना काम्यभावना से की जा सकती है । परन्तु वे जब फल देते हैं, तब उपासक के कर्मों के अनुरूप ही फल उन्हें देना पडता है, कम या ज्यादा नहीं ।[१०] सर्वोच्च पूजनीयता की दृष्टि से वीतरागी जिन तथा तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ स्थान पर हैं और देवता गौण स्थान पर हैं ।

'देव-देवताओं को गौण स्थान पर रखना' - यह जैन और जैमिनीय दोनों दर्शनों का लक्षणीय साम्य है ।

(७) सद्वस्तुमीमांसा :

द्रव्य, जाति, गुण, कर्म और अभाव ये पाँच पदार्थ कुमारिल द्वारा स्वीकृत है । द्रव्य, जाति, गुण, कर्म,

संख्या, सादृश्य, शक्ति और समवाय ये आठ पदार्थ प्रभाकर द्वारा स्वीकृत है ।[११] कुमारिलभट्ट, द्रव्यों के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, तम, शब्द - इनका समावेश करते हैं । प्रभाकर मिश्र तम और शब्द को छोडकर नौ द्रव्यों को मानते हैं ।[१२]

जैनदर्शन में सात तत्त्व (नव तत्त्व) प्रसिद्ध हैं - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ।[१३] कई अभ्यासकों ने इन्हें नैतिक तत्त्व माना है । जैनदर्शन में वास्तविक तत्त्वों को द्रव्य कहते हैं । षड्द्रव्यों कीगिनती इस प्रकार दी जाती है - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ।[१४] 'सत्' या 'अस्तित्व' द्रव्य का लक्षण है । हरेक द्रव्य गुण और पर्यायों से युक्त है ।[१५] द्रव्य नित्य हैं और पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है ।[१६]

जैन और जैमिनीय दोनों में तत्त्व, द्रव्य, पदार्थ, गुण, कर्म आदि का विवेचन भिन्न-भिन्न तरीके से पाया जाता है । दोनों ने अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसा को गृहीतक के रूप में स्वीकृत किया है । उनकी सत्यासत्यता एक-दूसरे के परिप्रेक्ष्य में स्वीकारना या नकारना यह अनुसन्धान एक स्वतन्त्र विषय है । तथापि यह बात मननीय है कि दोनों ने अपने-अपने द्रव्यों की सत्ता को नित्य माना है । अतएव दोनों दर्शनों को हम 'वास्तववादी यानेrealist' मान सकते हैं । जीव-अजीव दोनों को स्वतन्त्र रूप से मानने के कारण एक दृष्टि से जैन और जैमिनीय इन दोनों को हम 'द्वैतवादी याने dualist' भी कह सकते हैं । दोनों ने हर जीव की (आत्मा की) स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने के कारण दोनों को हम 'अनेकजीववादी याने pluralist' भी कह सकते हैं ।

(८) प्रमाणमीमांसा :

कुमारिलभट्ट छह प्रमाणों को स्वीकारते हैं - जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । प्रभाकरमिश्र अनुपलब्धि छोडकर पाँच प्रमाणों को मानते हैं ।[१७]

जैन प्रमाणविचार आगमयुग, खण्डन-मण्डन-युग और न्याययुग - इन तीनों में विभक्त है । जैन नैयायिकों ने न्याययुग में स्याद्वाद और सप्तभंगी के आधार से अभिनव विवेचन पद्धति अपनायी है । सामान्यत: हम यह कह सकते हैं कि जैन नैयायिकों को चार प्रमाण मान्य हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ।

हम कह सकते हैं कि मीमांसकों को अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन दोनों प्रमाणों की स्वतन्त्र रूप से स्वीकृति अनिवार्यता से करनी पडी । क्योंकि वेदवाक्यों का विरोध दूर करने के लिए तथा ज्ञानपरक वाक्यों का अर्थकर्मपरक बताने के लिए ये दोनों प्रमाण बहुत ही उपयुक्त थे । इसके अलावा 'अर्थवाद' का तन्त्र भी उन्होंने खूब अपनाया । मीमांसकों के अनुसार ज्ञान 'स्वत:प्रमाण' होता है । विशेषत: वेद स्वत:प्रमाण हैं । जैन गृहीतकों के अनुसारज्ञान हमेशा स्व-पर-प्रकाशक होता है ।

(९) शब्दप्रामाण्य का स्थान :

जैन और जैमिनीय दोनों ने अपने-अपने मूलाधार ग्रन्थ तय किये । जैमिनीय ने 'वेद', 'ब्राह्मण' एवं 'कल्पसूत्र' इन तीनों को शब्दप्रमाण के रूप में स्वीकारा । जैनियों ने वीतराग सर्वज्ञों के उपदेशों के संकलन को 'आगम' कहा । उनको प्रमाण रूप में स्वीकारा । यद्यपि श्वेताम्बर-दिगम्बरों में आगमप्रामाण्यसम्बन्धी मतभेद है तथापि दोनों ने प्राकृत भाषा में निबद्ध अपने-अपने प्राचीन ग्रन्थों को आगमप्रमाण (शब्दप्रमाण) के रूप में स्वीकृत किया है ।

मीमांसा के अनुसार वेदों के शब्द ऋषियों ने देखे याने उनका साक्षात्कार किया । फिर उन्होंने उन सूक्तों की मुख से उच्चारणा की । शब्दों का उच्चारण, शुद्धि, अशुद्धि इ. को मीमांसकों के शब्दप्रामाण्य में सर्वाधिक महत्त्व है । 'शब्द-नित्यत्व' और 'शब्द-शुद्धत्व' की अवधारणा, मीमांसा में एक प्रबल गृहीतक है ।

जैन मत के अनुसार तीर्थंकरों के उपदेश गणधरों ने अर्थरूप से संग्रहित और शब्दबद्ध किये । तीर्थंकरों के उपदेश लोकभाषा में होने के कारण शाब्दिक शुद्धता, नित्यता, उच्चारण हमेशा गौण स्थान पर रही । सार, भावार्थ

या आशय का महत्त्व मुख्य रहा । जैन आगमों का पठन–पाठन सूत्ररूप, अर्थरूप और उभयरूप होता था । इसी कारण पाँच विभिन्न भाषाओं में शब्दान्तरण होने के बावजूद भी जैनदर्शन का मूल तत्त्वज्ञानात्मक ढाँचा सुनिश्चित ही रहा ।

(१०) वेद तथा आगमों की पौरुषेयता एवं अपौरुषेयता :

मीमांसा के अनुसार वेदवाक्य पौरुषेय याने किसी पुरुष के द्वारा रचित नहीं हैं । वेद ईश्वर द्वारा भी रचित नहीं हैं । क्योंकि मीमांसकों को कर्ता–धर्ता के स्वरूप में ईश्वर का अस्तित्व ही मान्य नहीं है । वेदों में कर्ताओं के नाम निहित नहीं हैं । ऋषियों के नाम द्रष्टाओं के नाम हैं, कर्ताओं के नहीं हैं । वेद नित्य हैं क्योंकि शब्द नित्य हैं । शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी नित्य है । वेद किसी भी मानवविशेष द्वारा अथवा ईश्वरद्वारा रचित न होने के कारण अनादिकाल से गुरुशिष्य परम्परा के द्वारा चलते आये हैं ।[१८]

एक दृष्टि से देखे जाय तो जैन आगम पौरुषेय है और दूसरी दृष्टि से देखे जाय तो जैन आगमों को हम अपौरुषेय भी कह सकते हैं । समय–समय में तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण उन्हें हम पौरुषेय कह सकते हैं। ईश्वरद्वारा रचित न होने के कारण भी वे पौरुषेय है । क्योंकि जैनदर्शन में भी कर्ता–धर्ता के रूप में ईश्वर की मान्यता नहीं है । हरएक तीर्थंकर परम्पराप्राप्त आगमों को ही आगे बढाता है । जैनधर्म अनादि होने के कारण वे किसी पुरुषविशेषद्वारा रचित भी नहीं कहे जा सकते । इसलिए आगम अपौरुषेय भी हैं । वेदवचनों की तरह आगमवचनों की नित्यता एवं शब्दार्थों की नित्यता जैन परम्परा ने स्वीकृत नहीं की है । शब्द को जैनदर्शन ने पुद्गल के पर्याय के रूप में स्वीकृत किया है और पर्याय नित्य नहीं होते ।[१९]

(११) ईश्वर–संकल्पना :

आस्तिक दर्शनों में अनेक कारणों से सृष्टि के कर्ता, कर्मफलदाता, वेदप्रणेता या अदृश्य शक्ति आदि के रूप में ईश्वर की मान्यता दिखाई देती है । न्याय–वैशेषिक, योग–वेदान्त आदि में ईश्वरसिद्धि के लिए मुख्यत: दोकारण दिये जाते हैं –

१) सृष्टि और प्रलय का समर्थन ।

२) वेद–प्रामाण्य का संस्थापन ।

मीमांसक उत्पत्ति और प्रलय को नकारते हैं । संसार को अनादि–अनन्त मानते हैं । उत्पत्ति–प्रलय के रूप में सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते । कर्मफलदाता भी ईश्वर नहीं है ।

मीमांसासूत्रों के प्रणेता जैमिनि, ईश्वर के बारे में मौन रहना ही बेहतर समझते हैं, लेकिन कहीं भी वे इसका निराकरण, खण्डन या स्पष्टीकरण ऐसा नहीं देते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व उनके लिए नहीं है । अभ्यासकों ने मीमांसकों के बारे में यह निरीक्षण प्रस्तुत किया है कि, 'परवर्ती मीमांसकों में ईश्वरविषयक मान्यता दिखाई देती है ।'[२०]

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जैमिनीय का ईश्वरसम्बन्धी दृष्टिकोण जैनियों से बिलकुल मिलता–जुलता है । केवल फर्क इतना है कि स्वसिद्धान्त–परसिद्धान्त की समीक्षा करनेवाले प्राचीन अर्धमागधी सूत्रकृतांग ग्रन्थ में ईश्वर और सृष्टि की उत्पत्ति का स्पष्ट शब्दों में निरास किया है ।[२१] परवर्ती जैन नैयायिकों ने ईश्वर के असिद्धि के लिए कई प्रकार के तर्क उपस्थित किये हैं ।

सिद्धशिला पर आरूढ मुक्तजीवों के लिए जैन ग्रन्थों में कभी–कभी ईश्वर या परमात्मा ऐसे शब्द प्रयुक्त किये हुए दिखाई देते हैं । लेकिन इस ईश्वर का सम्बन्ध किसी भी तरह से सृष्टिकर्ता ईश्वर से नहीं है । जैन दृष्टि से मुक्तजीव परमात्मा हैं और वे अनन्त हैं ।

(१२) कर्मविषयक दृष्टिकोण :

'सभी वेदवाक्यों का कर्मपरक तात्पर्य बताना'-यह मीमांसा का मुख्य प्रयोजन होने के कारण कर्म का विविध दृष्टियों से स्पष्टीकरण देने का प्रयास जैमिनीयसूत्र और शाबरभाष्य के प्राय: सभी अध्यायों के सभी पादों में दिखाई देता है । खास कर द्वितीय अध्याय के चार पाद पूर्णत: कर्मविचार को समर्पित है । सभी बिखरी हुई कर्ममीमांसा अगर हम एकत्रित रूप से सामने लाए तो विविध प्रकार से कर्मों का वर्गीकरण दिखाई देता है ।

* स्थावर-त्रस सृष्टि का हलनचलन, जीवों का चतुर्गतिभ्रमण और आत्मिक उन्नति करनेवाले यज्ञयागादि कर्म इन पर आधारित वर्गीकरण सहजकर्म, जैवकर्म और ऐक्षकर्म इन संज्ञाओं से सम्बन्धित है ।

* नित्य-नैमित्तिक, काम्य-निषिद्ध और प्रारब्धकर्म जैमिनीय कर्मकाण्ड की खास अपनी विशेषता है ।

* उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन यह पंचविध कर्म न्याय-वैशेषिकदर्शनसम्मत है और मीमांसाद्वारा भी स्वीकृत है ।

* मीमांसा के दूसरे अध्याय में कर्मभेद के कई प्रकार दिये हुए हैं । जैसे कि - शब्दान्तर से, अभ्यास से, संख्या से, संज्ञा से, गुण से, प्रकारान्तर से, काल से, देश से, निमित्त से, फल से, संस्कार्य से आदि ।[२२]

यद्यपि कर्मों के विविध प्रकार मीमांसकों ने प्रस्तुत किये हैं तथापि यज्ञसम्बन्धी विधि-विधानों का विशेष स्पष्टीकरण ही मीमांसा का मुख्य प्रयोजन है । कर्मों का फल कर्मों के द्वारा स्वयं होता है । यज्ञादि द्वारा जो अपूर्व पैदा होता है वहीं कर्म का फल देने में समर्थ है । कर्म और कर्मफल के व्यवधान को जोडने के लिए मीमांसा में जिस अदृश्यशक्ति की स्थापना की है उसे 'अपूर्व' कहते हैं । जैमिनि, शबर, कुमारिल, प्रभाकर आदि के अनुसार यागादि क्रिया प्रमुख हैं, देवता गुणभूत हैं और स्वजन्य अपूर्व द्वारा ही व्यक्ति कर्म का फल प्राप्त करता है । अत: पुरुषार्थ की प्रधानता है ।

जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म एकमेक से जुडे हुए हैं । सृष्टि में भरे हुए अनन्तानन्त जीवों के जन्म-मरण की पूरी मीमांसा इस कर्मसिद्धान्त में ही निहित है । एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियों तक सभी जीवों को एवं चारों गतियों को भी यह कर्मसिद्धान्त उपयोजित है । जैमिनीय में कर्मसिद्धान्त का स्वरूप मुख्यत: मानवलक्षी दिखाई देत है । जैन दृष्टि से एक भी जीव का अस्तित्व कर्मसिद्धान्त से परे नहीं है । मीमांसकों की तरह जैनियों का कर्म भी अचेतन है लेकिन स्पष्टरूप से अणुरूप है । अणुरूप अचेतन कर्म भी, जीव के सम्पर्क में आने पर, फल देने में समर्थ होते हैं - इस प्रकार जैनों की दृढ धारणा है ।

नवीन मीमांसकों को अचेतन कर्म द्वारा प्राप्त होने वाला फल देने के लिए ईश्वर का अस्तित्व मानना पडा । लेकिन जैनों ने कर्म की सम्पूर्ण स्वयंचलित व्यवस्था प्रचलित की । जैन कर्मसिद्धान्त बहुत सारे प्रकार-उपप्रकारों से पुष्पित-फलित हुआ । ज्ञानावरणादि आठ मूलप्रकृति, कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ, घाति-अघातिकर्म, कर्मों की दस अवस्थाएँ[२३] इ. पर आधारित पूरे साहित्य का सम्भार जैनियों ने निर्माण किया । प्रत्येक जीव के प्रतिक्षण 'कर्म-वेदन' की, 'कर्मनिर्जरा' की और 'कर्मबन्ध' की सूक्ष्म अवधारणा स्थापित की । जैमिनीय के अपूर्वसिद्धान्त की समकक्ष संकल्पना जैन कर्मसिद्धान्त में उपलब्ध नहीं है । अपूर्व जैसा कोई नया तत्त्व निर्माण करने के बदले कर्मों का ही 'आबाधाकाल' उन्होंने माना है ।

दोनों दर्शनों में कर्मविचारणा को अनन्यसाधारण महत्त्व है । उनकी कर्मविचारणा में अनेक साम्य भी है । ईश्वर को न मानने के कारण दोनों ने अपनी-अपनी कर्मव्यवस्था ज्यादा से ज्यादा सुसंगत और तार्किक बनाने का प्रयास किया है । फिर भी 'कर्मकाण्ड की ओर झुकाव' और 'कर्मबन्ध से निवृत्ति'-ये दोनों मूलगामी धारणाएँ अलग होने के कारण दोनों में लक्षणीय भेद भी दिखाई पडता है ।

(१३) यज्ञविषयक दृष्टिकोण :

पूर्वमीमांसा दर्शन में यज्ञयागादि को मनुष्य का सबसे बडा कर्तव्य बतलाकर उसकी महत्ता, क्रिया और विधि

की विवेचना पर अधिक ध्यान दिया है । मीमांसा मुख्यतया कर्मकाण्डमूलक दर्शन है । यज्ञ, महायज्ञ उसके प्रमुख विचारणीय विषय हैं । दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम , अश्वमेध आदि यज्ञों का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का उचित अर्थ बताना, मीमांसा का मुख्य प्रयोजन है । अग्निहोत्र जैसे छोटे गृहयज्ञ मीमांसा के मत से नित्य कर्मों में अन्तर्भूत हैं । अग्निप्रधान और यज्ञप्रधान मीमांसासूत्रों की प्राचीनता के बारे में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि अनेक भारतीय उत्सव, त्यौहार और धार्मिक क्रियाओं में, जन्म से लेकर मरण तक सभी संस्कारों में यज्ञ का किसी न किसी रूप में समावेश किया गया है ।

वैदिक परम्परा में यज्ञीय संस्कृति के प्रवर्तक ग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थ, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र हैं । उसमें बताया है कि वेदों के आधार पर यज्ञों का प्रचलन पहले असुरों में फिर देवों में और तत्पश्चात् मानवों में हुआ । उत्तरकालीन ब्राह्मणों ने काम, लोभ, क्रोध के उदय से मर्यादारक्षण शिथिल होने लगा और यज्ञों में पशुहिंसा के रूप में मांसाहार प्रवृत्त हुआ । पशुमेध, अश्वमेध, गोमेध, अज, छाग, आलभन, पशुपरोडाश आदि बहुत सारे शब्दों से पशुहिंसा और मांसाहार का प्रचलन और परिवर्धन वेदमन्त्रों के आधार से होने लगा । काल की इसी सीमारेषा पर महर्षि जैमिनी ने मीमांसासूत्रों की रचना की । यज्ञीय कर्मकाण्ड की प्रतिष्ठापना विशिष्ट तत्त्वज्ञान के आधार पर की । वेदग्रन्थों में निहित सभी वाक्यों का खासकर हिंसासूचक वाक्यों का नये तरीके से अर्थ लगाया ।

जैमिनि के सूत्रों में स्पष्टत: कथन किया है कि यज्ञीय विधिविधानों का मांसपरक अर्थ करना अनुचित है ।[२४] 'अज' शब्द का अर्थ छाग (बकरा) नहीं है अपितु में पुराने धान्यबीजों को ही अज कहा जाता है ।[२५] इसी प्रकार जैमिनी ने इस दर्शन के द्वारा तीन हेतु साध्य किये – **१)** वेदों की हिंसापरकता दूर की । २) यज्ञीय कर्मकाण्ड की फिर से प्रतिष्ठापना की और **३)** अर्थनिर्धारण और तात्पर्यनिर्णय के सुनिश्चित निकष बनाकर भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अपना अनुपमेय योगदान दिया ।

यज्ञसंस्था भारत में कितनी दृढमूल थी इसके निर्देशक शब्द, परिच्छेद एवं चर्चाएँ जैन-प्राकृत साहित्य में विपुल मात्रा में पायी जाती हैं । खास तौरपर आचारांग, भगवती, उत्तराध्ययन, प्रश्नव्याकरण, पउमचरिय, विशेषावश्यकभाष्य, धर्मोपदेशमालाविवरण और महापुराण ये ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं । पशुवधात्मक यज्ञों का तीव्र विरोध तो जैन परम्पराने हमेशा किया किन्तु तिल-घृत आदि के आधार से किये जाने वाले यज्ञों के प्रति भी अरुचि ही दर्शायी है । जैन मत से 'अग्नि' यह अग्निकायिक जीवों का समूह होने के कारण किसी भी प्रकार का यज्ञ उन्हें मंजूर नहीं है । 'पउमचरियं' में 'अज' शब्द की विशेष मीमांसा एवं कथा विस्तृत रूप से पायी जाती है । 'विशेषावश्यकभाष्य' में 'अग्निहोत्रम् जुहुयात् स्वर्गकाम:'-इस वेदवाक्य की समग्र विचारणा की है । अन्त में यज्ञों की निरर्थकता बतायी है । 'धर्मोपदेशमालाविवरण' ग्रन्थ में यज्ञविषयक टीकाटिप्पणी का चरमोत्कर्ष पाया जाता है । कालकाचार्यनामक मुनि स्पष्टता से कहते हैं कि, 'यज्ञ का फल नरकगमन ही है ।'[२६]

यद्यपि जैनों ने यज्ञसंस्था की खुलकर टीका की तथापि आम समाजपर यज्ञसंस्था का इतना प्रभाव था कि रूपकात्मक अथवा प्रतिकात्मक पद्धति से उत्तराध्ययन जैसे ग्रन्थ में मुनिजीवन का वर्णन पाया जाता है ।

जैन और बौद्धों का यज्ञविरोध का रुख इतना कडवा होता चला गया कि महर्षि जैमिनि जैसे प्रखर वेद प्रवक्ता ने वेदवाक्यों की समालोचना का और उसमें निहित अहिंसापरकता दिखाने का कार्य ही मानो, इस दर्शन के द्वारा प्रस्तुत किया ।

(१४) आत्मविचार :

कुमारिल और प्रभाकर के आत्मविषयक मतों में किंचित् मतभेद होने के बावजूद भी हम मीमांसादर्शन के आत्मसम्बन्धी विचार इस प्रकार अंकित कर सकते हैं । चैतन्य का आश्रय आत्मा है । वह देह, इन्द्रियज्ञान और सुख से भिन्न है । अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता है । परिणाम, पृथकत्व आदि उसके तेरह गुण है । वह विभु है । लेकिन सुख-दु:खों का भोग और अनुभव वह शरीर में ही करता है । वह नित्य है । आत्मा का ज्ञान अहंप्रत्यय

से याने आत्मचेतना से होता है । आत्मा प्रतिव्यक्ति, प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न है । वह अपने प्रारब्ध कर्म, भोग द्वारा समाप्त करता है और आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है ।[२७]

जैनदर्शन का आत्मविचार प्राय: एक-दो मुद्दों का अपवाद करके वाक्यश: मीमांसा दर्शन से मिलता-जुलता है । फर्क इतना ही है कि जैन मत के अनुसार उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चेतना आत्मा का मुख्य गुण है औरसुख, दु:ख आदि उसके पर्याय हैं ।[२८] जैन मत के अनुसार आत्मा शरीरपरिमाण है लेकिन उनके मत से, 'आत्मप्रदेशों की संख्या लोकाकाश के प्रदेशों से समतुल्य है ।'

(१५) मोक्षविचार :

जैन और जैमिनीय दोनों के आत्मविचार में जितना साम्य दिखाई देता है उतना ही साम्य पारिभाषिक शब्दों का अन्तर छोड के प्राय: दोनों के मोक्षविचार में भी दिखाई देता है ।

कुमारिलभट्ट के अनुसार, 'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्ष: ।'[२९] प्रभाकर के अनुसार, 'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्ष: ।'[३०] जैनों के अनुसार, 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष: ।'[३१] कुमारिल के अनुसार मोक्षावस्था में जीव में आत्मज्ञान नहीं है, ज्ञानशक्ति मात्र है । जैनों का मत है कि मुक्त जीवों में सिद्धअवस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसौख्य और अनन्तवीर्य होता है । जैन और जैमिनीय दोनों के मत से मुक्त आत्माएँ अनन्त तथा अनेक हैं और सत्तारूप में सदैव वें अवस्थित होते हैं । कुमारिल के अनुसार मोक्षप्राप्ति के बाद जीव का पुनर्जन्म नहीं होता । जैन मतके अनुसार भी मुक्तजीव पुनर्जन्मरहित ही होते हैं । अत: कुमारिल और जैन दोनों के मतों में अवतार-संकल्पना को कोई भी स्थान नहीं है ।

'प्रारब्धकर्मों को भोगकर नष्ट करना', जैनों की 'अकामनिर्जरा' है । 'नित्य-नैमित्तिक कर्मों द्वारा मोक्षमार्ग की बाधा दूर करने की तुलना', जैनियों की 'सकामनिर्जरा' से हम कर सकते हैं । 'काम्य और निषिद्ध कर्मों को छोडना', जैनदृष्टि से 'संवर' हैं । जैन और जैमिनीय दोनों मानते हैं कि मोक्ष के लिए पाप और पुण्य देनों का सम्पूर्ण क्षय होना आवश्यक है ।

इस सबका मतलब है कि परिभाषिकता को छोडकर मोक्ष का स्वरूप और प्रक्रिया जैन और जैमिनीय दोनों में प्राय: एकरूप ही है ।

उपसंहार :

कर्मकाण्ड और यज्ञ के पुरस्कर्ता जैमिनीय और यज्ञसंस्था के प्रखर टीकाकार जैन, इन दोनों में दिखाई देनेवाली बाह्य विभिन्नता इतनी स्पष्ट है कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते की इन दोनों में मूलभूत तत्त्वज्ञान केकोई समान प्रारूप हो सकते हैं । भारतीय संस्कृति की विशेषता, 'विविधता में एकता' इस सूत्र में अन्तर्भूत है । इसका उदाहरण बाह्यता भिन्न आविष्कारवाले जैन और जैमिनीय इन दोनों में हम प्रतीत कर सकते हैं, यदि हम दोनों के अन्तस्तल तक पहुँच जाए ।

* जैन प्राचीन ग्रन्थों में 'विचारणा', 'पूछताछ' इस अर्थ में 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग पाया जाता है ।

* मीमांसा दर्शन जिस प्रकार वेदवाक्यों का अर्थ लगाने का शास्त्र है, उसी प्रकार जैन परम्परा में अनुयोगद्वार ग्रन्थ में निहित विचारणा के द्वारों के माध्यम से हम जैन आगमों की छानबीन अच्छी तरह से कर सकते हैं ।

* दोनों को 'शब्दप्रामाण्य' शिरोधार्य है । जैमिनीय वेदवाक्यों को शब्दश: प्रमाण मानते हैं, तो जैन भावार्थरूप से आगमों को प्रमाण मानते हैं ।

* दोनों के आम्नाय या आगम विशिष्ट पुरुष द्वारा रचित अथवा ईश्वर द्वारा रचित नहीं है याने कि अपौरुषेय है ।

* दोनों सच्चे अर्थ में निरीश्वरवादी है। मतलब ईश्वर को कर्ता-धर्ता के रूप में नहीं स्वीकारते और सृष्टि को अनादि-अनन्त भी मानते हैं।

* स्वर्ग संकल्पना दोनों में समानता से पायी जाती है लेकिन देव-देवताओं का स्थान दोनों ने गौण रूप से ही माना है।

* आत्मस्वरूप और जगत्स्वरूप का विचार करते हुए हम दोनों को वास्तववादी (realist), द्वैतवादी (dualist) और बहुतत्त्ववादी (pluralist) इन तीनों विशेषणों से समान रूप से विशेषित कर सकते हैं।

* दोनों समान रूप से मानते हैं कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है और संख्या से अनेक अथवा अनन्त है। प्रत्येक आत्मा कर्मों का कर्ता-भोक्ता है।

* ईश्वरभक्ति और ईशकृपा को कोई स्थान न होने के कारण दोनों ने आत्मनिर्भरता एवं पुरुषार्थ को अधोरेखित किया है।

* कर्मविचारणा की विभिन्नता कितनी भी हो, दोनों एकवाक्यता से कहते हैं कि कर्म की व्यवस्था स्वयंचलित है। वही जन्म-मरण रूप संसारचक्र का उपादानभूत है।

* मुक्तजीवों का सत्ता रूप में त्रैकालिक अस्तित्व दोनों की समानता है। मुक्तजीवों का पुनरागमन मान्य न होने के कारण दोनों में अवतारवाद की संभावना नहीं है।

* स्त्री-पुरुषों के धार्मिक कार्यों के प्रति समान अधिकार, शूद्रों के अधिकार एवं अंगहीन लोगों के भी धर्मसम्बन्धी अधिकारों की चर्चा मीमांसादर्शन के षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद में प्रस्तुत की गयी है। जैनधर्म नेवारंवार साधुओं के साथ साध्वियों का और श्रावकों के साथ श्राविकाओं का उल्लेख किया है। जाति और वर्णव्यवस्था के विरोध में अपना अलग दृष्टिकोण स्पष्ट किया है।

जैन और जैमिनीय के साम्यस्थल खोजने का प्रयास इस शोधलेख में किया है। अगर हम दोनों की अधिक गहराई में उतरे तो त्रस-स्थावर संकल्पना, उत्क्रान्तिवाद के अनुकूल संकेत, जीवजातियों की योनि में अयोनिज अर्थात् जैन दृष्टि से सम्मूर्च्छिम जीव आदि अनेकानेक संकल्पनाओं के बारे में वैचारिक समीपता दिखाई दे लगती है।

निष्कर्ष :

ऐतिहासिक क्रमबद्धता अगर ध्यान में रखी जाय तो जैमिनीय सूत्रों का विश्लेषण जैन प्राचीन आगमों के पृष्ठभूमि पर रख कर एक अलग ही चित्र सामने उभरकर आता है। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएँ वर्णाश्रमविरोधी एवं यज्ञीय हिंसा के बिलकुल ही खिलाफ थी। यज्ञीय हिंसा ऐसे कगार तक पहुँची थी कि उक्त श्रमण परम्पराओं ने डटकर उसका सामना किया। महर्षि जैमिनि लगभग इ.स.पूर्व तिसरी शताब्दी में इस वैचारिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। वेदवाक्यों का आधार लेकर चली हुई हिंसापरकता, खुद उनको भी मान्य नहीं थी। श्रमण परम्परा का विरोध चल ही रहा था। ऐसी स्थिति में यज्ञशास्त्र में प्रविष्ट हिंसापरकता दूर करने का बीडा उन्होंने उठाया। प्रखर तर्कबुद्धि और उचित मूलगामी भाषाज्ञान के आधार से उन्होंने वेदवाक्यों के अर्थ, नई सूझबूझ के साथ प्रस्तुत किये। जैमिनि के सामने तत्त्वज्ञानपर प्रारूप स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं था। उन्होंने सूत्रों की रचना में ही तत्त्वज्ञान का प्रारूप गुंफित किया। उस तत्त्वज्ञान का भावार्थ अगर एकत्रित किया तो जैन तत्त्वज्ञान से वह प्रारूप ज्यादा से ज्यादा सादृश्य प्रकट करता है। अगर अहिंसा के प्रति क्रम से अग्रेसर होना है, तो जैनियों का प्रारूप अधिक सयुक्तिक होना यह कोई महान् आश्चर्य की बात नहीं है।

****

सन्दर्भ-सूचि

१) ऋग्वेद १.१६४.४६
२) भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ.५२,५३
३) अभयकुमारे --- ईहा वूह वीमंसा मग्गण गवेसण अत्थ सत्थमइ विसारए --- यावि होत्था ।
ज्ञाताधर्मकथा, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १, सूत्र १५
४) ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सन्ना सई मई पन्ना, सव्वं आभिणिबोहियं ।। नन्दीसूत्र, गाथा ८७, पृ.२३०
५) नन्दीसूत्र, सूत्र ४१, पृ.२३२
६) मीमांसा-प्रमेय, पृ.३
७) **अ**) जीयाज्जैनं शासनमनादि-निधनम् । पंचाध्यायी, १.३
ब) मीमांसा-प्रमेय, पृ.२५६
८) मीमांसा-प्रमेय, पृ.९७, पृ.१०९
९) मीमांसादर्शन, प्रस्तावना, पृ.१२ ; मीमांसा-प्रमेय, पृ.२९१ से २९५
१०) जेणप्पंति सुरा वि य धणाणि कम्माणुसारेणं ।। कुम्मापुत्तचरिअं
११) मीमांसा-प्रमेय, पृ.२६
१२) मीमांसा-प्रमेय, पृ.४०
१३) जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् । तत्त्वार्थसूत्र १.४
१४) धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो ।
एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।। उत्तराध्ययन २८.७
१५) गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । तत्त्वार्थसूत्र ५.३७
१६) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । तत्त्वार्थसूत्र ५.२९
१७) भारतीय तत्त्वज्ञान, पृ.२९५
१८) भारतीय सांस्कृतिक साहित्य सागर (पूर्वमीमांसा), पृ.१०
१९) शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च । तत्त्वार्थसूत्र ५.२४
२०) मीमांसा-प्रमेय, पृ.२३८, २४४, २४५, २६६
२१) ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्विए ।।
सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ।।
माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ।। सूत्रकृतांग (१) १.६,७,८
२२) मीमांसा-प्रमेय, पृ.२९६ से २९९ ; मीमांसादर्शन, पृ.१३
२३) कर्मों के विवेचन के लिए देखिए गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती, श्री परमश्रुत प्रभावकमण्डल, मुम्बई, वि.सं.१९६९
२४) यागपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् । मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्याद् वाहुतिसंयोगात् ।। मीमांसादर्शन, अध्याय १२, पाद २, सूत्र २,६
२५) छागो वा मन्त्रवर्णात् । न चोदनाविरोधात् ।। मीमांसादर्शन अध्याय ६, पाद ८, सूत्र ३१,३२
२६) Collected Research Papers in Prakrit & Jainology (Vol.I) ; देखिए शोधलेख 'यज्ञ', पृ.१६५ से १९०
२७) मीमांसा-प्रमेय, पृ.६२ से ८५
२८) जीवो उवओगलक्खणो । नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ।। उत्तराध्ययन २८.१०
२९) शास्त्र दीपिका, पृ.१२५
३०) प्रकरण पंचिका, शालिकनाथ मिश्र, पृ.३४९,३५०
३१) तत्त्वार्थसूत्र १०.१

****

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचि

१) आगमस्वाध्यामाला : सम्प्रेरक, कुन्दकुन्दऋषि, त्रिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, अहमदनगर, २००२
२) उत्तराध्ययनसूत्र : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), १९९७
३) ऋषिभाषितसूत्र : सं. विनयसागर, प्राकृतभारती अकादमी, जयपुर, १९८८
४) तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वातिकृत, विवेचक, पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २००७
५) ज्ञातृधर्मकथा : अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, २०११
६) भारतीय तत्त्वज्ञान : श्रीनिवास हरि दीक्षित, फडके प्रकाशन, कोल्हापुर, १९९६
७) भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२

८) भारतीय सांस्कृतिक साहित्य सागर (पूर्वमीमांसा) : प्राची चिकटे, वोरा ॲण्ड कंपनी पब्लिशर्स, मुम्बई, १९८३
९) मीमांसा दर्शन : महर्षि जैमिनि, सं.पं. श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९८६
१०) मीमांसा-प्रमेय : डॉ. रामप्रकाश दास, सुकृति प्रकाशन, नई दिल्ली, १९८८
११) मीमांसा-शाबर-भाष्यम् : शबरस्वामिविरचित, युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ, १९७७
१२) सूत्रकृतांगसूत्र : अनुवादक, अमोलकऋषि, अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया, २००२

****